RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-04
Issue-02
February -2019

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com [UGC Listed Journal]

रामायण कालीन आश्रम व्यवस्था

डॉ० गुड़िया कुमारी

विश्वविद्यालय प्राचीन भारतीय इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग ल० ना० मिथिला विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभंगा–846008

प्राचीन आर्य–ऋषियों के अनुसार मानव–जीवन अनवरत आत्म–शिक्षण एवं आत्म–अनुशासन का समय था। इस शिक्षण–काल को उन्होंने आश्रम के नाम से कई भागों में बांट दिया था। इन्हीं पर मनुष्य के सांसारिक जीवन का ढ़ाँचा अवस्थित रहता था।

प्राचीन ग्रन्थों से कुछ विद्वानों ने ऐसे उद्धरण खोज निकालने की चेष्टा की है, जिनसे आश्रमों की संख्या मूलतः तीन सिद्ध होती है, किन्तु रामायण के समय में आश्रमों की संख्या निश्चित रूप से चार बन चुकी थी (2/100/62), यथा (1) विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्याश्रम, (2) विवाहितों के लिए गृहस्थाश्रम, (3) अर्थोपार्जन से विरत वनवासी तपस्वी के लिए वानप्रस्थाश्रम और (4) संसार–त्यागी वैरागी के लिए सन्यासाश्रम।

प्रत्येक द्विज से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने जीवन को इस आश्रम–व्यवस्था के अनुसार संचालित करे। प्रत्येक आश्रम जीवन का एक विभाग माना गया था, जिसमें एक निर्धारित समय तक व्यक्ति अपनेको प्रशिक्षित करता और आगामी आश्रम के लिए तैयार करता था। रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि आश्रम–व्यवस्था का अनुसरण प्रायः उपर्युक्त क्रम से ही किया जाता था और उसका अतिक्रमण लोक–निंदित था। राम के वनवास की आलोचना करते हुए भरत ने कहा था कि उनकी–सी आयु और पद के व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम त्यागकर वानप्रस्थ–जीवन स्वीकार करना असामयिक और अनुपयुक्त है।

उपनयन–संस्कार के बाद ब्रह्मचर्याश्रम आरम्भ होता था। इसमें विद्यार्थी ब्रह्मचारी रहकर कठोर एवं अनुशासनमय जीवन व्यतीत करता था। गुरु की सेवा और शास्त्रों का अध्ययन उसके दो प्रमुख कर्त्तव्य थे। अगस्त्य, भरद्वाज, वाल्मीकि आदि ऋषि–मुनियों के आश्रमों में असख्य विद्यार्थी आकर अपने कुलपति की अधीनता में शिष्य–वृत्ति से रहते थे। शिक्षा–क्रम की समाप्ति पर छात्र का समावर्तन–संस्कार होता था, जो इस आश्रम की समाप्ति का सूचक था, और तब वह 'स्नातक' कहलाता था। रामायण में तीन प्रकार के स्नातकों का उल्लेख है– 'विद्या–स्नातक' (2/82/11), 'व्रत–स्नातक' (5/21/17) और 'विद्या–व्रत–स्नातक' (2/1/20)। विद्या–स्नातक उसे कहते थे, जो अपना अध्ययन–क्रम समाप्त कर चुका है, पर ब्रह्मचारी के लिए नियत व्रत–नियमादि जिसके पूरे नहीं हुए हैं। व्रत–स्नातक वह था, जिसने व्रतों का पालन कर लिया है, पर जिसका अध्ययन समाप्त नहीं हुआ है। जिसके व्रत–नियमादि और अध्ययन दोनों सम्पूर्ण हो चुके हैं, वह विद्या–व्रत–स्नातक कहलाता था। राम और रावण दोनों इस अंतिम श्रेणी के स्नातक थे (2/1/20; 6/92/60)।

ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर युवक स्नातक विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में पितृ–ऋण, देव–ऋण और मनुष्य–ऋण को चुकाने के लिए गृहस्थ को श्राद्ध, यज्ञ और अतिथि–सत्कार करने पड़ते थे। साथ–ही–साथ उसे अपने वयोवृद्ध गुरुजनों, पुत्र–कलत्र तथा परिवार के अन्य सदस्यों का भरण–पोषण करना पड़ता था। सभी धार्मिक क्रिया–कलाप और यज्ञ–यागादिक उसे अपनी पत्नी के साथ सम्पन्न करने पड़ते थे, जो इसीलिए 'धर्मपत्नी अथवा 'सहधर्मचारिणी' कहलाती थी।

चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सर्वश्रेष्ठ था– चतुर्रामाश्रमाणां हि नार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम् (21/106/22); और स्वयं रामायण गृहस्थाश्रम का ही आदि–महाकाव्य है। उषनिषदों और आरण्यकों में यदि वानप्रस्थाश्रम का गौरव–गान है, तो रामायण गृहस्थाश्रम की महाप्रशस्ति है और इसीको आध्यात्मिक कल्याण का मुख्य साधन बताती है। समस्त हिन्दू–धर्मशास्त्रों ने भी गृहस्थाश्रम का जो गुण–गान किया है, उसका कारण यह है कि गृहस्थ ही अन्य आश्रमों की आधार–शिला है और वही समाज के कल्याण में प्रत्यक्ष योग देता है। वैयक्तिक और सामाजिक सभी प्रकार के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में गृहस्थाश्रम ही सबसे अधिक सहायक है। कहते हैं, उपनिषदों और आरण्कों ने लोक में जो वैराग्य की भावना प्रसारित की थी, उसी की प्रतिक्रिया के रूप में वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर गृहस्थ–धर्म को गौरवान्वित किया। 'आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पत्नी आदि जितने आदर्शों के इस अनुपम महाकाव्य में आदि कवि की शब्द–तूलिका ने खींचा है, वे सब गृह–धर्म के पट पर ही चित्रित किये गए हैं। इतना ही क्यों, राम–रावण का भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है; वह तो राम–जानकी–पति–पत्नी–की परस्पर विशुद्ध प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण–मात्र है।'

गृहस्थी की गाड़ी ढोते–ढ़ोते एक समय ऐसा आता है, जब उम्र की धूप में गृहस्थ वृद्ध हो जाता है– उसके बाल

RRIJM 2015, All Rights Reserved

श्वेत हो जाते हैं, चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती है और सांसारिक कामों में निरंतर लगे रहने से उसका शरीर कृश और निर्बल हो जाता है। यही वह समय है, जब गृहस्थ को अर्थ और काम के सक्रिय उपार्जन से विरत हो जाना चाहिए तथा अपने पुत्र या उत्तराधिकारी को सारे अधिकार सौंपकर एकांत में शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए। तत्कालीन राजाओं में यह प्रथा थी कि राज्य को अपने वयस्क पुत्रों को सौंप कर वे वन में तपस्वी जीवन बिताने लगते थे। महाराज दशरथ ने अपनी राज्य–सभा को संबोधित करते हुए कहा था कि मैं बूढ़ा और अशक्त तथा राज्य के भारी जुए को सम्मानपूर्वक वहन करने में असमर्थ हो गया हूँ, राम को राज्यासीन कर विश्राम करना चाहता हूँ (2/2/9–10)। दशरथ यह स्पष्ट नहीं कहते कि राम को युवराज बनाकर मैं वानप्रस्थी बन जाऊँगा। किन्तु वृत्र और अंशुमान्–जैसे अनेक राजाओं के आख्यानों से पता चलता है कि वे पुत्रों को राज्य सौंपकर वन चले गए थे। पुत्रों को राजपाठ सौंपकर वनवासी बन जाने की प्रथा की ओर लक्ष्मण ने भी संकेत किया था।

वानप्रस्थाश्रम में पत्नी या तो पुत्रों के संरक्षण में घर पर रहती अथवा पति के साथ वन–गमन करती थी। रामायण में उल्लिखित अधिकांश तपस्विगण अपनी पत्नियों के साहचर्य में वैखानस–व्रतों का पालन करते थे।

वानप्रस्थी गृहस्थ वन में संयम और त्याग का जीवन व्यतीत करता, सब प्राणियों के हित में रह रहता, भिक्षाटन और यज्ञों का अनुष्ठान करता तथा वेदों के स्वाध्याय में संलग्न रहता था। किसी वृक्ष के नीचे उसका आवास होता, इंद्रियों पर वह संयम रखता और अनायास प्राप्त होनेवाले फल–फूलों से अपना निर्वाह करता था। बुद्धि पर अज्ञान का पर्दा डालनेवाले शस्त्रों से उसे कोई प्रयोजन न रहता। उसके लिए 'देश–धर्म' का– तपोवन के अनुरूप कर्तव्यों का–पालन ही वांछनीय था– देशधर्मस्तु पूज्यताम् (3/9/27)।

अंतिम आश्रम 'सन्यास' पर रामायण में विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। उसमें 'सन्यासी' शब्द का प्रयोग न होकर 'भिक्षु' और 'परिव्राजक' नाम आये हैं। रामायण कालीन परिव्राजक या सन्यासी का परिचय पाने के लिए हमें रावण का उस समय का वर्णन देखना चाहिए, जब वह इस रूप में सीता के सम्मुख उप–स्थित हुआ था–

श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही।
वामे चांसेऽवसल्याळा शुभे यष्टिकमण्डलू।। 3/46/3

अर्थात् वह शरीर पर साफ–सुथरा गेरुए रंग का वस्त्र लपेटे हुए था, उसके मस्तक पर शिखा, हाथ में छाता और पैरों में जूते थे, तथा उसमें बायें कंधे पर डंडा रखकर उसमें कमंडलु लटका रखा था।

आर्य–ऋषियों द्वारा आयोजित यह आश्रम–व्यवस्था उनकी वर्ण–व्यवस्था की ही पूरक है। दोनों व्यवस्थाएँ व्यक्ति और समाज के जीवन और उसके संगठन से संबंधित हैं, अन्तर केवल दृष्टिकोण अथवा आग्रह का है। वर्ण–व्यवस्था मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप में देखती है, उसके कर्तव्यों और अधिकारों की– उसके स्वभाव, उसकी प्रवृत्तियों और उसके मानसिक सुझाव के अनुसार–परिभाषा और व्याख्या करती है। ऐसा करते समय यह व्यवस्था उस समाज को भी दृष्टि में रखती है, जिसका वह एक सदस्य है। दूसरे शब्दों में, वर्ण–व्यवस्था समाज में रहनेवाले मनुष्य से संबद्ध है। दूसरी ओर, आश्रम–व्यवस्था मनुष्य को एक इकाई के रूप में देखती है और बताती है कि उसका आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, वह अपने जीवन को किस प्रकार अनुशासित, सुव्यवस्थित एवं धर्मानुकूल बनाये तथा इस लक्ष्य–प्राप्ति के लिए क्या साधन अपेक्षित हैं।

इसी वर्णाश्रम–व्यवस्था के आधार पर रामायण कालीन आर्य व्यक्ति और समाज की विरोधी मांगों में संघर्ष के स्थान पर सुन्दर समन्वय स्थापित करने में समर्थ हुए थे। वाल्मीकि ने सर्वत्र व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व प्रदान किया; साथ ही वह, समाज–व्यवस्था को हानि पहुँचाये बिना, व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए सभी सुविधाएं देने को तैयार थे। राम का समग्र जीवन इस सिद्धांत से अनुप्राणित था कि जहाँ व्यापक या सामूहिक हितों की रक्षा का प्रश्न खड़ा हो, वहाँ संकुचित या निजी हितों की बलि दे देना श्रेयस्कर है। अपने परिवार में व्यक्तिगत स्वार्थों का संघर्ष उठने पर उन्होंने, कैकेयी को संतुष्ट करने के लिए, अपने राज्याधिकार को तिलांजलि दे दी, जिससे कौटुंबिक कलह के परिणाम स्वरूप देश में अराजकता न फैल जाय। अपने जीवन में उन्हें जिन अनेकानेक जटिल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, उनको उन्होंने या तो पूरी तरह हल कर लिया या कम–से–कम अत्यधिक सरल तो अवश्य बना दिया– और इसका श्रेय है उनकी सत्यवादिता को, उनकी न्यायपरायणता को और दूसरों के हित–साधन के लिए उनके स्वार्थ–त्याग को।

रामायण में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें दूसरों के उचित अधिकारों का सम्मान करना सामाजिक दृष्टि से नितांत आवश्यक माना गया है और इस नियम का उल्लंघन करनेवाला दंडका पात्र बना है। वाल्मीकि के सर्वप्रथम श्लोक से यह शिक्षा मिलती है कि प्रकृति के छोटे–छोटे प्राणी को भी अपने ढंग से हर्ष मनाने का अधिकार प्राप्त है और उसमें हस्तक्षेप करनेवाले हम कोई नहीं होते। अंधमुनि के पुत्र की हत्या करने से दशरथ को पुत्र–शोक का भागी बनने का शाप मिला, क्योंकि राजा ने अंधमुनि को उनके सुखपूर्वक रहने के अधिकार से वंचित किया था। राम को अपनी ओर आकर्षित करने की धृष्टता कर शूर्पणखा ने सीता के वैवाहिक अधिकार को चुनौती दी और वाली ने सुग्रीव की पत्नी का उपभोग कर उनके स्वत्व को छीना। इन दोनों को उचित दण्ड देना शासक का कर्तव्य था। अन्त में रावण ने दंडकारण्य में राम–सीता के सुखपूर्वक रहने के अधिकार को छीनकर अपने ही सर्वनाश को

न्योता दिया। व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा समाज–हित की दृष्टि से अनुपेक्षणीय है, इसका वाल्मीकि ने सर्वत्र उद्घोष किया है।

संदर्भ ग्रन्थों की सूचीः–

01. देखिये पी0 एम0 मोदी– 'डेवलपमेंट आफ द सिस्टम आफ आश्रमाज' (सप्तम ओरिएंटल कान्फ्रैंस का विवरण, 1933)
02. चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्। आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमर्हसि।। 2/106/22.
03. ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन् दुर्हृदः साधु निर्दहन्।। 2/106/28, टीकादेखिये।
04. बलदेव उपाध्याय– 'आदिकवि वाल्मीकि', 'कल्याण–संक्षिप्त वाल्मीकि– रामायणांक', पृ0–14.
05. पूर्व राजर्षिवृत्त्या हि वनावसोऽभिधीयते। प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत्परिपालने।। 2/23/26.
06. हस्तादानो मुखादानो नियतो वृक्षमूलिकः। वानप्रस्थो भविष्यामि.....। 15/13/38.
07. अग्निसंयोगवद्धेतुः शस्त्रसंयोग उच्यते।। 3/923.
08. देखिये पां0 वा0 काणे– 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र', जिल्द 2, भाग 1, पृ0–423 और पी0 एच0 वालावलकर– 'हिन्दू सोशल इंस्टीट्यूशन्स', पृ0–28.
09. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। 1/2/15.

RRIJM 2015, All Rights Reserved